www.researchvidyapith.com ISSN (Online): 3048-7331

Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal

(International Open Access, Peer-reviewed & Refereed Journal)

(Multidisciplinary, Monthly, Multilanguage)

*** Vol-2* *Issue-6* *June 2025***

स्वतंत्रता आंदोलन में डॉ0 भीमराव अम्बेडकर का योगदान

डॉ0 राधे श्याम

पूर्व शोध छात्र, इतिहास विभाग, पाटलिपुत्र विश्वविद्यालय, पटना

सारांश

अध्ययन का उद्देश्य यह प्रतिपादित करना है कि अम्बेडकर ने स्वाधीनता को केवल औपनिवेशिक सत्ता–परिवर्तन नहीं माना, बल्कि उसे "सामाजिक लोकतंत्र" की शर्तों समान नागरिकता, अधिकार–आधारित राज्य और प्रतिनिधिक संस्थाएँ से अभिन्न रूप में जोड़ा। शोध 1919–1947 की काल–सीमा पर केंद्रित है, जबकि 1947–1950 के संविधान–निर्माण के माध्यम से वैचारिक निरंतरता भी रेखांकित की गई है। पद्धति में प्राथमिक स्रोत (भाषण, ज्ञापन, पत्र, सरकारी अभिलेख) तथा समकालीन पत्र–पत्रिकाओं के साथ द्वितीयक इतिहास लेखन का समालोचनात्मक उपयोग किया गया है। लेख तीन प्रमुख तर्क विकसित करता है। प्रथम, महाड़ सत्याग्रह और कालाराम मंदिर प्रवेश जैसे अभियानों ने स्वतंत्रता की धारणा को दैनंदिन नागरिकता अधिकारों जलस्रोत, पूजा–स्थल और सार्वजनिक स्थान की ठोस माँगों से जोड़कर "राजनीतिक स्वराज" के साथ "समान नागरिकता" को अनिवार्य पूर्व–शर्त के रूप में प्रतिष्ठित किया। द्वितीय, गोलमेज़ सम्मेलनों में पृथक निर्वाचिका और आरक्षित प्रतिनिधित्व पर अम्बेडकर का आग्रह, तथा उसके पश्चात् पूना पैक्ट, राष्ट्रवादी राजनीति के शक्ति–संतुलन, दलित स्वायत्तता और लोकतांत्रिक संस्थाकरण की दिशा को निर्णायक रूप से प्रभावित करते हैं। तृतीय, श्रमिक नीति, न्यूनतम वेतन, शिक्षा–नीति तथा प्रशासनिक सुधारों पर अम्बेडकर का सतत हस्तक्षेप स्वतंत्रता–संग्राम को सामाजिक–आर्थिक न्याय के कार्यक्रम से जोड़े रखता है और "समान अवसर" की धारणा को राजनीति के केंद्र में स्थापित करता है। अध्ययन का महत्व इस समेकित दृष्टि में निहित है कि यह राष्ट्रीय आंदोलन की "मुख्यधारा" को वंचित समुदायों के अनुभवों और दलित विमर्श के साथ समाकलित कर पढ़ता है। निष्कर्षतः, अम्बेडकर का वैचारिक, संगठनीय और संवैधानिक योगदान भारतीय राष्ट्रवाद को बहुवचनात्मक, सहभागी और प्रतिनिधि ढाँचे की ओर अग्रसर करता है; यही निरंतरता संविधान–निर्माण में मूल अधिकार, समानता और आरक्षण प्रावधानों के रूप में साक्ष्यरूप से प्रकट होती है। इस प्रकार, औपनिवेशिक अवरोध के साथ–साथ जाति आधारित असमानता का उन्मूलन स्वतंत्रता की अपरिहार्य शर्त के रूप में प्रतिष्ठित होता है, जो भारतीय लोकतंत्र की दीर्घकालिक वैधता और सामाजिक समावेशन के लिए आधार निर्मित करता है।

मुख्य–शब्दः डॉ. भीमराव अम्बेडकर; स्वतंत्रता आंदोलन; महाड़ सत्याग्रह; गोलमेज़ सम्मेलन; पूना पैक्ट; सामाजिक लोकतंत्र; समान नागरिकता; श्रमिक नीति; प्रतिनिधित्व; संविधान–निर्माण।

प्रस्तावना

अम्बेडकर ने स्वतंत्रता को मात्र सत्ता–हस्तांतरण की ऐतिहासिक घटना नहीं माना; उनके लिए यह अस्पृश्यता के उन्मूलन, विधि–शासन की प्रधानता, समान नागरिकता और प्रतिनिधित्व–न्याय की ऐसी रूपरेखा थी जो समाज के सबसे वंचित वर्गों को राजनीतिक प्रक्रिया का सक्रिय भागीदार बनाए। 1930–32 के गोलमेज सम्मेलनों में उनके स्मरण–पत्रों और वक्तव्यों ने यह प्रतिपादित किया कि "राजनीतिक सत्ता ही प्रगति की कुंजी है" अर्थात दलित समुदाय का वास्तविक उत्थान तभी संभव है जब उसकी आवाज़ राज्य की निर्णायक संस्थाओं तक पहुँचे। इसी बौद्धिक–राजनीतिक धरातल पर उन्होंने बाद में मौलिक अधिकारों, नागरिक स्वतंत्रताओं, समानता–आधारित

आरक्षण और अल्पसंख्यक–सुरक्षा जैसे दावों को एक सुसंगत संवैधानिक ढाँचे में रूपान्तरित करने का विचार रखा। पुणे समझौते (1932) के संदर्भ में उनकी आलोचनात्मक दृष्टि यानी प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त से समझौता किए बिना ऐतिहासिक परिस्थितियों में व्यावहारिक आगे–बढ़ते स्वतंत्रता–आंदोलन के भीतर सामाजिक न्याय के प्रश्न को नैतिक–राजनीतिक केंद्र में ला खड़ा किया।[1]

शोध–विषय व औचित्य प्रस्तुत अध्ययन का केंद्र 1930 से 1947 के मध्य अम्बेडकर की वे पहलें हैं जिन्होंने स्वतंत्रता–आंदोलन के विमर्श को "राजनीतिक स्वाधीनता, सामाजिक न्याय" के द्वय–आयामी लक्ष्य में परिवर्तित किया। औचित्य तीन स्तरों पर स्थापित है। प्रथम, गोलमेज सम्मेलनों में प्रस्तुत स्मरण–पत्रों, अल्पसंख्यक–समिति की बहसों और प्रतिनिधित्व संबंधी तर्कों के माध्यम से अम्बेडकर ने दलितों की "राजनीतिक सामुदायिकता" को सिद्ध किया और पृथक निर्वाचक मंडल, प्राथमिक चुनाव तथा आरक्षित सीटों जैसे संस्थागत उपायों का औचित्य प्रतिपादित किया।[2] द्वितीय, पुणे समझौते के बाद उन्होंने प्रदर्शित किया कि संयुक्त निर्वाचक मंडल के भीतर भी दलित मतदाताओं को प्राथमिक चुनाव और संख्यात्मक आरक्षण की यथार्थवादी रचनाएँ देकर प्रतिनिधित्व की गुणवत्ता सुनिश्चित की जा सकती है; इस पर उनकी विस्तृत आलोचना और वैकल्पिक प्रस्ताव ̈ैींज ब्वदहतमे ंदक ळंदकीप भ्ंअम क्वदम जव जीम न्दजवनबींइसमे" में संगृहीत है। तृतीय, 1945–47 के बीच मौलिक अधिकारों की रूपरेखा, अल्पसंख्यक सुरक्षा तथा संघीय संरचना पर उनके विचार जिनमें नागरिक स्वतंत्रताओं, समानता, और "एक व्यक्ति, एक मत, एक मूल्य" जैसे सिद्धान्त स्पष्ट हैं स्वतंत्र भारत की संवैधानिक चेतना का अग्रदूत रूप हैं। इन तीनों स्तरों का संयुक्त अध्ययन यह दिखाता है कि अम्बेडकर का योगदान केवल संविधान–निर्माण तक सीमित नहीं, बल्कि वह स्वतंत्रता–आंदोलन की दिशा, भाषा और नैतिक उद्देश्य में निर्णायक परिवर्तन लाने वाला था।[3]

शोध का दायरा 1927–47 तक सीमित है, ताकि महाड़–नासिक जैसे सामाजिक आन्दोलनों की पृष्ठभूमि से लेकर गोलमेज सम्मेलनों, पुणे समझौते और उत्तरवर्ती संवैधानिक प्रस्तावों तक की सतत कड़ी स्पष्ट हो सके। भौगोलिक दृष्टि से यह अध्ययन ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों और रियासतों दोनों की बहसों को संदर्भित करेगा, क्योंकि अम्बेडकर ने अधिकारों और प्रतिनिधित्व को संपूर्ण उपमहाद्वीप की संघीय–संवैधानिक संरचना के परिप्रेक्ष्य में रखा। सीमा–विवेचन में यह स्वीकार है कि अध्ययन अम्बेडकर–केन्द्रित है; अतः कांग्रेस, मुस्लिम लीग अथवा प्रिंसली स्टेट्स की समानांतर आन्तरिक बहसें केवल उस सीमा तक उद्धृत होंगी जहाँ वे अम्बेडकर के हस्तक्षेपों से प्रत्यक्षतः संबद्ध हैं। साथ ही, गोलमेज सम्मेलनों और पुणे समझौते पर उत्तरवर्ती व्याख्याएँ बहुविध हैं; इसलिए इस शोध में प्राथमिक साक्ष्य–ग्रन्थों को सिद्धान्ततः उच्चतर प्रमाण–मान्यता दी जाएगी, और द्वितीयक साहित्य का उपयोग प्रतिपुष्टि तथा तुलनात्मक विवेचन के लिए किया जाएगा।

वैचारिक पृष्ठभूमि

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता तभी सार्थक है जब सामाजिकःआर्थिक क्षेत्र में शोषण, पदानुक्रम और जाति–आधारित वंचना का अंत हो; इसी कारण वे "सामाजिक लोकतंत्र" को लोकतंत्र की अनिवार्य बुनियाद मानते हैं ऐसा जीवन–धर्म जिसमें स्वतंत्रता, समानता और बन्धुता एक–दूसरे से अविच्छिन्न "यूनियन ऑफ ट्रिनिटी" के रूप में प्रतिष्ठित हों। यह दृष्टि उनके प्रसिद्ध निबंध ।ददपीपसंजपवद व ̈िब्ंजम में प्रतिपादित आदर्श समाज–कल्पना से अभिव्यक्त होती है, जहाँ समाज गतिशील हो, संचार के मुक्त चौनलों से युक्त हो और पारस्परिक सहजीवन द्वारा समानाधिकार की चेतना विकसित करे। इसलिए अम्बेडकर के लिए "सामाजिक न्याय" किसी परोपकारी रियायत का नहीं, बल्कि विधिक संवैधानिक समानता और वास्तविक अवसर–समानता का प्रश्न है, जो जाति–आधारित ऊँच–नीच को अस्वीकार करती है।[4]

इसी प्रतिज्ञा के विस्तार में ैजंजमे ंदक डपदवतपजपमे (1947) में उन्होंने नागरिक अधिकार, भेदभाव निषेध और आर्थिक लोकतंत्र की ठोस रूप–रेखाएँ रखीं सार्वजनिक संस्थानों में "पूर्ण और समान उपभोग" के अधिकार, नस्ल, वर्ण, धर्म, स्थिति के आधार पर भेदभाव को अपराध घोषित करने और उसके निवारण हेतु विधिक प्रावधान करने का आग्रह किया। उनके लिए सामाजिक न्याय का अर्थ था कानून के समक्ष समानता के साथ–साथ उन संरचनात्मक अवरोधों को हटाना जो बराबरी के अधिकार के वास्तविक उपभोग में बाधक हों। यही कारण है कि वे केवल राजनीतिक समानता (एक व्यक्ति, एक मत, एक मूल्य) से संतुष्ट नहीं थे; उन्होंने चेताया कि यदि सामाजिक आर्थिक क्षेत्र में असमानता बनी रही तो लोकतंत्र संकट में पड़ जाएगा।[5]

"समानता व स्वतंत्रता" की उनकी अवधारणा एक–दूसरे की शर्त है– स्वतंत्रता बिना समानता "कुछ लोगों के वर्चस्व" में परिणत हो सकती है और समानता बिना स्वतंत्रता "व्यक्ति की पहल" को मार देती है; दोनों के स्थायी नैतिक आधार के रूप में उन्होंने बन्धुता को रखा, जो लोकतंत्र का सामाजिक हृदय है। Annihilation of Caste में यही तर्क आगे बढ़ाकर वे बताते हैं कि जाति–व्यवस्था सामाजिक एकात्मता को नष्ट करती है; अतः समानतादृ स्वतंत्रता के फलितार्थ तभी साकार होंगे जब अंतरूसमूह संपर्क, पारस्परिक सम्मान और विधिक संरक्षण साथ–साथ चलें। विचार संरचना के स्तर पर समता–स्वातंत्र्य–बंधुता का यह त्रिवेणी मूल्य उनके सम्पूर्ण लेखन और राजनीतिक क्रिया में व्याप्त है, जिसे समकालीन भारतीय राजनीति के विश्लेषक भी अम्बेडकर–चिन्तन का केन्द्रीय सूत्र मानते हैं। अल्पसंख्यक अधिकार और प्रतिनिधित्व पर संविधान–सभा की बहसों का विश्लेषण भी दिखाता है कि अम्बेडकर ने समानता न्याय की संवैधानिक संरचना गढ़ते समय राष्ट्रीय एकता और व्यक्तिगत अधिकारों के बीच संतुलन साधने का आग्रह किया।

"संवैधानिकता" के प्रश्न पर अम्बेडकर का आग्रह स्पष्ट है– आधुनिक भारत को "केवल रूप में नहीं, तथ्य में भी" लोकतांत्रिक बनाये रखने के लिए उद्देश्यों की प्राप्ति "संवैधानिक उपायों" से ही होनी चाहिए; असंवैधानिक तरीके "ग्रामर ऑफ एनार्की" हैं इन्हें त्यागना होगा। यह चेतावनी उनके संवैधानिक नैतिकतावाद के साथ जुड़ती है, जिसमें संस्थाओं का सम्मान, अधिकार कर्तव्य का संतुलन और विधिसम्मत सामाजिक परिवर्तन मुख्य हैं। फलतः अम्बेडकर की वैचारिक पृष्ठभूमि स्वाधीनता–संग्राम को केवल औपनिवेशिक मुक्ति नहीं, बल्कि न्यायपूर्ण सामाजिक पुनर्संरचना के रूप में देखती है जहाँ संविधान सामाजिक न्याय का साधन, समानता स्वतंत्रता उसका मूल्य ढाँचा और बन्धुता उसका सामाजिक आत्मा है।[6]

संगठन–निर्माण

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के राजनीतिक–वैचारिक कार्यभार का केंद्रीय सूत्र रहा– सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध नैतिक प्रतिरोध को ठोस संस्थागत शक्ति में रूपांतरित करने की सुविचारित रणनीति। उनके प्रसिद्ध सूत्र "शिक्षित, संगठित, संघर्ष ने इसी कार्यदर्शन को दिशा दी और दलित–बहुजन समाज में दीर्घकालीन नेतृत्व के लिए अनुशासित कैडर–निर्माण पर बल रखा। इसी लक्ष्य से 20 जुलाई 1924 को बम्बई में "बहिष्कृत हितकारिणी सभा" का गठन हुआ। इसके संविधान में प्रमुख उद्देश्यों में दलितों की शिक्षा का विस्तार, छात्रावास–पुस्तकालय, छात्रवृत्तियाँ, विधिक सहायता और सामाजिक–राजनीतिक प्रश्नों पर जनजागरण सम्मिलित थे। सभा का मुख्यालय बम्बई में था और यह "बहिष्कृत भारत" जैसे पत्रों तथा लोकशिक्षण गतिविधियों के माध्यम से समुदाय का आत्मविश्वास बढ़ाने का मंच बनी। 1927 के महाड सत्याग्रह की तैयारी में भी इसकी भूमिका दर्ज मिलती है, जिसने सार्वजनिक जलस्रोतों पर समानाधिकार को औपनिवेशिक शासन और उच्च–जातीय वर्चस्व दोनों के समक्ष वैधानिक–नैतिक प्रश्न बनाया।[7]

30 के दशक में अम्बेडकर ने संगठन–निर्माण को श्रमिक–किसान प्रश्नों से जोड़ा और 1936 में "इंडिपेन्डेण्ट लेबर पार्टी की स्थापना की। यह दल जाति–वंचना और वर्ग–शोषण के अंतःसंबंध को रेखांकित करते हुए न्यूनतम मजदूरी, औद्योगिक न्याय, खोटी–उन्मूलन, भूमिसुधार, तथा शिक्षा–स्वास्थ्य के सार्वजनिक प्रावधान जैसे उपायों का कार्यक्रम लेकर आया। 1937 के प्रांतीय चुनावों में आईएलपी को उल्लेखनीय सफलता मिली और अम्बेडकर स्वयं बम्बई प्रांतीय विधानमण्डल के सदस्य निर्वाचित हुए, इस तरह दलित राजनीति ने प्रत्यक्ष नीतिगत मंच हासिल किया और कारख़ाना–श्रम कानूनों, हड़तालों व मजदूर अधिकारों पर प्रतिरोध का लोकतांत्रिक ढाँचा बना।

द्वितीय विश्वयुद्ध और 'क्विट इंडिया' के उथल–पुथल भरे परिदृश्य में अम्बेडकर ने दलितों की अखिल भारतीय राजनीतिक एकजुटता के लिए 1942 में नागपुर में "ऑल–इंडिया शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन की स्थापना कराई। इसके संविधान में उद्देश्यों के रूप में समाज के राजनीतिक शिक्षण–प्रशिक्षण, प्रत्येक प्रान्त में इकाइयों का संगठन, प्रतिनिधित्व और आरक्षण की स्थायी संवैधानिक गारण्टियाँ, प्रशासनिक सेवाओं में समुचित भागीदारी, पृथक बस्तियों–बसाहट तथा आर्थिक–सामाजिक सुरक्षा की नीतियाँ स्पष्ट रूप से विन्यस्त थीं। एससीएफ ने कैबिनेट मिशन और संवैधानिक विमर्श में दलित प्रश्न को संगठित ढंग से रखा और औपनिवेशिक–उत्तर भारत में सामाजिक लोकतंत्र के लिए औपचारिक संस्थागत प्रतिरक्षा पर बल दिया।[8] समय के साथ यही परम्परा रिपब्लिकन पार्टी की परियोजना में रूपान्तरित हुई, जो अम्बेडकर की संगठनात्मक दृष्टि की दीर्घजीविता का प्रमाण है।

अन्ततः,"बहिष्कृत हितकारिणी सभा" से आरम्भ होकर आईएलपी और एससीएफ तक अम्बेडकर का संगठन–निर्माण सामाजिक न्याय की व्यावहारिक राजनीति का क्रमिक विकास है जहाँ सामुदायिक आत्मबल, वर्गीय गठजोड़ और संवैधानिक सुरक्षा तीनों को परस्पर पूरक संस्थागत रूप दिए गए। यही वह प्रक्रिया थी जिसने स्वतंत्रता–आन्दोलन के विमर्श में दलित नागरिकता की समानता को एक ठोस राजनीतिक भाषा और मंच प्रदान किया।

जन–संवाद व पत्र–पत्रिकाएँ

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने स्वतंत्रता आंदोलन के भीतर "राजनीतिक स्वराज" को "सामाजिक लोकतंत्र" की शर्तों से जोड़ने के लिए जिस सबसे प्रभावी औज़ार का इस्तेमाल किया, वह उनका जन–संवाद था और इस जन–संवाद की धुरी बनी उनकी पत्र–पत्रिकाएँ। 31 जनवरी 1920 को शुरू हुआ 'मूकनायक' (मराठी) केवल एक साप्ताहिक/पाक्षिक पत्र नहीं, बल्कि उन 'मूक' समुदायों का मंच था जिनकी वाणी सार्वजनिक क्षेत्र में दबा दी गई थी। इसके प्रथम अंक की भूमिका में अम्बेडकर ने राष्ट्रीयता की प्रचलित परिभाषाओं को चुनौती देकर अस्पृश्यों के नागरिक अधिकारों को स्वतंत्रता के अभिन्न मानदंड के रूप में रखा यहाँ भाषणात्मक आक्रोश नहीं, बल्कि तर्क, तथ्य और नैतिक अपील की त्रयी थी। 'मूकनायक' की रचना–योजना में निधि–सहायता (कोल्हापुर के छत्रपति शाहू महाराज), प्रबंधकीय व्यवस्था और शहरी जनमत को संबोधित करने की रणनीति शामिल थी; इसी के बल पर अम्बेडकर ने सार्वजनिक जलस्रोत, मंदिर–प्रवेश, शिक्षा और रोज़गार जैसे मुद्दों को "राष्ट्र–निर्माण" की भाषा में रूपान्तरित किया।[9]

1927 में 'बहिष्कृत भारत' का आरम्भ अम्बेडकर के संवाद को अधिक सीधे, बहसप्रिय और संगठित राजनीतिक दिशा में ले गया। महाड़ सत्याग्रह के बाद इसके संपादकीयों में उन्होंने नागरिक अधिकारों को स्थानीय प्रशासन, क़ानून और सामाजिक रीति–रिवाजों के ठोस प्रसंगों से जोड़ते हुए बताया कि जाति–वर्चस्व से मुक्ति के बिना स्वतंत्रता अधूरी है। यह पत्र आर्थिक संकटों के बावजूद चलता रहा और समय–समय पर ऐसे संपादकीय प्रकाशित हुए जो विधायी सुधारों, पंचायत व्यवहार, और आंदोलन की रणनीतियों के बीच सेतु का काम करते हैं इन संपादकीयों का संकलन आज भी अमूल्य स्रोत है।

1930 में 'जनता' के साथ अम्बेडकर ने अपने संवाद को व्यापक सामाजिक–राजनीतिक परिदृश्य में प्रतिष्ठित किया। गोलमेज सम्मेलन, पूना पैक्ट और उसके बाद की संसदीय बहसों के दौर में 'जनता' ने दलित प्रश्न को "राष्ट्रवाद की आत्मालोचना" के रूप में रखा यह दिखाते हुए कि लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व, श्रम–नीति और शिक्षा–सुधार केवल सामाजिक न्याय के उपविषय नहीं, बल्कि स्वाधीनता की कार्य–सूची के केंद्रीय आयाम हैं। 'जनता' के कइयों अंकों में प्रकाशित भाषण–टिप्पणियाँ, विधेयकों की विवेचना और संगठनात्मक घोषणाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि प्रेस अम्बेडकर के लिए आंदोलन, बौद्धिकता और नीति तीनों का संगम था।[10]

इन तीनों पत्रों की सांकेतिक भाषा 'मूकनायक' (मूक जनता की वाणी), 'बहिष्कृत भारत' (बहिष्करण के विरुद्ध राष्ट्र–विमर्श) और 'जनता' (जन–समुदाय की राजनीति) स्वतंत्रता आंदोलन में अम्बेडकर के वैचारिक प्रस्थान–बिंदुओं को मूर्त रूप देती है। 'मूकनायक' ने जाति–विमर्श को नैतिक–राजनैतिक सवाल की तरह उठाया, 'बहिष्कृत भारत' ने आकस्मिक घटनाओं के मध्य से सिद्धान्त और नीति का संबंध स्पष्ट किया, और 'जनता' ने विधायी–संवैधानिक मार्गदर्शन के साथ आंदोलन को दीर्घकालिक रणनीति दी। इस क्रम में अम्बेडकर ने जनमत गढ़ने को केवल 'रिपोर्टिंग' नहीं माना; उन्होंने समाचार, तर्क, दस्तावेज़, याचिका और संगठन सभी को एक ही सार्वजनिक व्याकरण में बरता, ताकि स्वतंत्रता की संकल्पना सामाजिक बराबरी और नागरिक गरिमा के बिना न रह जाए। यही कारण है कि इन पत्र–पत्रिकाओं की सामग्री आज भी इतिहासलेखन के लिए प्राथमिक स्रोत का दर्जा रखती है और यह दिखाती है कि अम्बेडकर का जन–संवाद, स्वतंत्रता आंदोलन के भीतर लोकतंत्र की संस्थागत नींव को कैसे तैयार करता चला गया।

श्रमिक राजनीति व आर्थिक दृष्टि

डॉ. भीमराव अम्बेडकर की श्रमिक–राजनीति और आर्थिक दृष्टि स्वतंत्रता आंदोलन के उस दौर से आकार लेती है जब वे 1942–46 में वायसराय की कार्यकारिणी परिषद के "लेबर मेंबर" रहे और साथ ही एक दूरदर्शी संवैधानिक चिंतक के रूप में उभर रहे थे। उनके लिए श्रम–नीति केवल उत्पादन बढ़ाने का साधन नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और आर्थिक लोकतंत्र का रास्ता थी। इसी कारण उन्होंने युद्धकालीन अनुशासन के साथ–साथ मज़दूरों के हक़ों के स्थायी ढांचे न्यूनतम वेतन, यूनियन की मान्यता, औद्योगिक विवाद निपटान की प्रक्रिया और

सामाजिक सुरक्षा को संस्थागत रूप दिया। न्यूनतम वेतन और यूनियन के प्रश्न पर अम्बेडकर का रुख़ अत्यंत स्पष्ट था। उन्होंने केन्द्रीय विधान परिषद में "न्यूनतम वेतन विधेयक" प्रस्तुत कर यह सिद्धांत स्थापित कराया कि कुछ नियोजनों में राज्य स्वयं न्यूनतम दरें तय कर सकता है ताकि दिहाड़ी का स्तर केवल बाजार की मर्जी पर न रहे। यूनियनों की वैधानिक मान्यता के लिए वे "इंडियन ट्रेड यूनियन्स (संशोधन) विधेयक" लेकर आए यह इस विचार पर टिका था कि प्रतिनिधि यूनियनों की अनिवार्य पहचान से सामूहिक सौदेबाज़ी संभव होगी और उद्योग–शांति टिकाऊ बनेगी। इसी दौरान उन्होंने त्रिपक्षीय भारतीय श्रम सम्मेलन की संरचना को मज़बूत किया यह मंच एक ओर श्रम–कानूनों में समानता (यूनिफ़ॉर्मिटी) सुनिश्चित करने और दूसरी ओर औद्योगिक विवादों के निपटारे की स्पष्ट प्रक्रिया गढ़ने के लिए बनाया गया था; 48 घंटे साप्ताहिक कार्य–समय पर सहमति भी इसी विमर्श का हिस्सा बनी।[11]

औद्योगिक संबंध और क़ानूनी ढांचे में अम्बेडकर ने तदर्थ कदमों से आगे बढ़कर स्थायी संस्थागत व्यवस्था पर ज़ोर दिया। रक्षा नियम 81–। के अनुभव से उन्होंने यह स्पष्ट किया कि त्वरित सुलह–समिति, मध्यस्थता और आवश्यकता पड़ने पर न्यायाधिकरण ऐसी बहुस्तरीय प्रणाली के बिना उत्पादन और श्रमिक अधिकार दोनों असुरक्षित रहेंगे। इसी सोच के साथ उन्होंने फैक्ट्रियों, खानों, मातृत्व–लाभ और अवकाश जैसे विषयों पर संशोधनित विधायी एजेंडा आगे बढ़ाया, और श्रम सांख्यिकी, मान्यता–बोर्ड तथा विवाद–आंकड़ों के मानकीकरण को नीति–निर्माण का आधार बनाया। कल्याण–राज की अवधारणा उनके आर्थिक दृष्टिकोण का केंद्रीय स्तम्भ थी। "स्टेट्स एंड माइनॉरिटीज़" में उन्होंने राज्य–समाजवाद का वह प्रारूप रखा जिसमें मुख्य और रणनीतिक उद्योगों का स्वामित्व–परिचालन राज्य के हाथ में हो ताकि निजी एकाधिकार के बजाय सार्वजनिक हित सर्वोपरि रहे; इसे उन्होंने "आर्थिक शोषण से संरक्षण" के संवैधानिक उपबंध के रूप में सूत्रबद्ध किया। इसी कड़ी में उन्होंने सामाजिक सुरक्षा का कार्यक्रम तथ्याधारित बनाने के लिए उद्योग–विशिष्ट सर्वेक्षण और स्वास्थ्य बीमा पर अदारकर रिपोर्ट जैसी विशेषज्ञ पहलें कराईं, जिन्हें वे व्यापक सोशल सिक्योरिटी की रूपरेखा का आधार मानते थे। अंततः संविधान सभाके अपने समापन भाषण में अम्बेडकर ने चेताया कि केवल राजनीतिक लोकतंत्र पर्याप्त नहीं; सामाजिक–आर्थिक लोकतंत्र को साकार करने वाली नीतियाँ यानी कल्याणकारी राज्यकृही गणतंत्र को स्थिर करेंगी।[12] इस समूचे दृष्टिकोण में न्यूनतम वेतन, सशक्त यूनियनें, निष्पक्ष औद्योगिक न्याय–प्रणाली और सार्वभौमिक सामाजिक सुरक्षा ये चारों धुरी एक साथ दिखाई देती हैं, और यही अम्बेडकर की श्रम–राजनीति का दीर्घकालिक योगदान है।

गांधी–कांग्रेस से मतभेद

अम्बेडकर के लिए लक्ष्य (साध्य) था– जाति–आधारित अधीनता का स्थायी उन्मूलन और समान नागरिकता; इस उद्देश्य तक पहुँचने के साधन प्रतिनिधित्व, संवैधानिक गारंटी, व सामाजिक पुनर्रचना को वे नैतिक और यथार्थोचित, दोनों मानते थे। इसके विपरीत, गांधी का बल नैतिक साधनों अहिंसा, आत्मशुद्धि, रचनात्मक कार्यकृ पर अधिक था; राजनीतिक लक्ष्य उन साधनों की पवित्रता से वैधता प्राप्त करते थे। यही साध्य साधन बहस दोनों के बीच मूल असहमति का बिन्दु बनी। अम्बेडकर का तर्क था कि यदि साधन दलितों के वास्तविक सशक्तिकरण तक नहीं ले जाते, तो वे नैतिक दिखते हुए भी परिणामतः अन्याय को स्थिर कर सकते हैं; उनके यहाँ साधनों की परख का कसौटा वंचित वर्गों पर ठोस प्रभाव था, न कि केवल आत्मानुशासन की प्रतीति। गांधी के साथ उनके पत्राचारों और प्रतिवादों में यह असहजता बार–बार सामने आती है अम्बेडकर ने स्पष्ट कहा कि सामाजिक लोकतंत्र के बिना राजनीतिक स्वतंत्रता "खोखली" हो जाएगी।

इसी बहस से जुड़ा दूसरा आयाम था जाति–उन्मूलन बनाम सुधारवाद। गांधी ने कई अवसरों पर अस्पृश्यता–निवारण, मंदिर–प्रवेश और 'हरिजन' कल्याण जैसे कार्यक्रमों से सुधारवादी राह अपनाई; वे हिन्दू समाज के भीतर नैतिक आत्मपरिवर्तन से क्रमिक सुधार की आशा करते रहे। अम्बेडकर के लिए यह पर्याप्त न था वे धर्मग्रंथीय वैधता प्राप्त जन्मगत पदानुक्रम को "संस्थागत अन्याय" मानते हैं और उसका समाधान "अन्निहिलेशन ऑफ कास्ट" यानी जाति–व्यवस्था के समूल उच्छेद में देखते हैं। उनका आग्रह था कि प्रतीकात्मक समावेशन (जैसे केवल मंदिर–प्रवेश) से आगे बढ़कर कानूनी–संवैधानिक बराबरी, शिक्षा–रोज़गार में अवसर और स्वतंत्र राजनीतिक आवाज़ सुनिश्चित की जाए। इसलिए जब गांधी 'हरिजन सेवक संघ' जैसे उपक्रमों में संरक्षक–भाव से 'उद्धार' की भाषा बोलते हैं, अम्बेडकर उसमें निर्भरता और संरचनात्मक असमानता की पुनर्रचना देखते हैं; उन्होंने इस पर तीखी आलोचना भी की यह असहमति उनकी पुस्तक ँीज ब्वदहतमे ंदक

ळंदकीप भ्ंअम क्वदम जव जीम न्दजवनबींइसमे में विस्तृत रूप से मिलती है।

तीसरा पहलू राजनीतिक रणनीति का है, जिसका चरम प्रकटिकरण पृथक निर्वाचक–मंडलों के विवाद (1932) और पुणे–समझौते में दिखता है। अम्बेडकर का आग्रह था कि दलितों को अलग निर्वाचन–सूचियाँ मिलें ताकि वे बहुसंख्यक–समाज के नैतिक व सांस्कृतिक दबावों से स्वतंत्र प्रतिनिधि चुन सकें; वे इसे वास्तविक राजनीतिक शक्ति का न्यूनतम आधार मानते थे। गांधी ने इसे "हिन्दू समाज के विखंडन" का ख़तरा बताया और आमरण अनशन किया; इसके बाद जो समझौता हुआ, उसमें पृथक निर्वाचक–मंडल के स्थान पर आरक्षित सीटें और प्राथमिक सूची–मतदान का प्रावधान रखा गया यहाँ भी दोनों की रणनीतिक दृष्टियाँ अलग दिखती हैं, गांधी राष्ट्रीय–एकता और नैतिक–जनान्दोलन की राजनीति के हित में समावेशी समीकरण चाहते थे, जबकि अम्बेडकर न्याय–केंद्रित संवैधानिकता के माध्यम से दलितों की स्वायत्त राजनीतिक शक्ति पर बल देते रहे। आगे चलकर अम्बेडकर ने "प्रतिनिधित्व–बिना–उद्धार" की किसी भी रचना–नीति पर अविश्वास जताया; उनके लिए न्याय का मार्ग कानून, अधिकार और संस्थागत समानता से होकर जाता है, न कि केवल प्रायश्चित्त और सद्भाव–वचन से। इसीलिए वे कांग्रेस–प्रधान राष्ट्रीय आंदोलन की प्राथमिकताओं पर प्रश्न उठाते हैं राजनीतिक स्वाधीनता को वे अनिवार्य मानते हैं, पर सामाजिक लोकतंत्र के बिना उसे अपूर्ण समझते हैं। समग्रतः, अम्बेडकर–गांधी मतभेद वैचारिक शत्रुता नहीं, बल्कि न्याय और मुक्ति की पद्धति को लेकर गंभीर असहमति था जहाँ अम्बेडकर ने दलित नागरिकता की स्वायत्तता और समानता को केन्द्र में रखकर भारतीय राष्ट्रवाद के नैतिक क्षितिज का विस्तार किया।[13]

राष्ट्रवाद पर आलोचनात्मक दृष्टि

डॉ. भीमराव अम्बेडकर का आग्रह सांस्कृतिक–साम्य या संख्यात्मक प्रभुत्व वाले राष्ट्रवाद से भिन्न, अधिकारोन्मुख और नैतिक–सामाजिक लोकतंत्र पर आधारित राष्ट्र–परियोजना का था। उनके लिए राष्ट्र मात्र भावनात्मक एकता का घोष नहीं, बल्कि वह राजनीतिक समुदाय है जो समान नागरिकता, संवैधानिक अधिकारों और सामाजिक न्याय के प्रत्यक्ष साधनों से संचालित हो। इसी संदर्भ में वे चेताते हैं कि केवल राजनीतिक लोकतंत्र पर्याप्त नहीं; उसके टिके रहने के लिए "सामाजिक लोकतंत्र" अर्थात स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की जीवन–पद्धति को व्यावहारिक रूप देना होगा। संविधान सभा में 25 नवम्बर 1949 के अपने समापन भाषण में वे साफ़ कहते हैं कि बंधुत्व के बिना स्वतंत्रता और समानता "रंग–रोगन" से ज़्यादा गहरी नहीं हो सकतीं; अतः भारतीय राष्ट्रनिर्माण का औचित्य सामाजिक–नैतिक संबंधों के लोकतांत्रिक पुनर्गठन से निकले, न कि किसी सांस्कृतिक एकरूपता से। अम्बेडकर की आलोचना का दूसरा बिंदु बहुसंख्यकवाद की चुनौती है। वे 'बहुमत का शासन' और 'बहुमतवाद' के बीच भेद रेखांकित करते हुए चेताते हैं कि यदि राज्य का चरित्र किसी धार्मिक–सांस्कृतिक समुदाय के प्रभुत्व में ढलता है, तो वह लोकतंत्र के मूल्यों से असंगत हो जाएगा। इसी संदर्भ में चंपेजंद वत जीम च्तजपजपवद व्पिदकपं में उनका प्रसिद्ध कथन "हिन्दू राज को हर कीमत पर रोका जाना चाहिए" एक वैधानिक–सामाजिक चेतावनी है कि संख्यात्मक बहुमत को संवैधानिक सीमाओं, अल्पसंख्यक अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं से नियंत्रित करना ही लोकतांत्रिक राष्ट्रवाद की शर्त है। यह कथन किसी एक समुदाय–विशेष के विरुद्ध नहीं, बल्कि 'समुदाय–राज' की समग्र प्रवृत्ति के खिलाफ़ है, जो स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धान्तों से टकराती है।[14]

इसीलिए अम्बेडकर "अधिकार–आधारित राष्ट्र–परियोजना" प्रस्तावित करते हैं, जिसमें राज्य–नागरिक संबंधों का केंद्र 'नागरिक अधिकार' हैं, न कि पूर्व–प्रदत्त सामाजिक दर्जे। 1947 के स्मरण–पत्र ैजंजमे ंदक डपदवतपजपमे में वे मूल अधिकारों, अल्पसंख्यक–सुरक्षाओं, समुचित प्रतिनिधित्व, सेवाओं में हिस्सेदारी, तथा आर्थिक–सामाजिक सुरक्षा (किराया–नियंत्रण, औद्योगिक न्याय, सार्वजनिक शिक्षा–स्वास्थ्य) के ठोस संवैधानिक आश्वासनों का खाका देते हैं। इस दस्तावेज़ में वे केवल अधिकार–सूची नहीं गिनाते, बल्कि ऐसे संस्थागत तंत्र की रूपरेखा भी रखते हैं जो लोकतंत्र को "सामाजिक" बनाता है अर्थात नागरिक जीवन की वास्तविक असमानताओं को विधिक–नीतिगत उपायों से कम करता है। इस तरह राष्ट्र की एकता किसी सांस्कृतिक–धार्मिक समरूपता से नहीं, बल्कि समानता की व्यावहारिक अभिव्यक्तियों से सधती है; संविधान इसलिए एक "नैतिक अनुबंध" बनता है जो बहुलता को संरक्षित करते हुए समान नागरिकता को प्रभावी बनाता है।[15] अन्ततः, अम्बेडकर का राष्ट्रवाद भावनात्मक राष्ट्र–वादिता से भिन्न एक विवेकपूर्ण परियोजना है जहाँ राजनीतिक बहुमत को संवैधानिक संयम प्राप्त है, सामाजिक लोकतंत्र नागरिक–संबंधों का मानक है, और अधिकार–संरचनाएँ वह संस्थागत ढाँचा हैं

जिनसे राष्ट्र वास्तविक अर्थ में "एक" बनता है। उनकी यह दृष्टि स्वतंत्रता–आन्दोलन के भीतर दलित–बहुजन प्रश्न को केंद्रीय बनाती है और बताती है कि लोकतंत्र का सार केवल सत्ता–हस्तांतरण नहीं, बल्कि सामाजिक शक्ति–संतुलन का न्यायपूर्ण पुनर्गठन है।

निष्कर्ष

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के योगदान का समेकित आकलन करते हुए स्पष्ट होता है कि उन्होंने औपनिवेशिक भारत की राष्ट्रीय–मुक्ति की राजनीति को सामाजिक लोकतंत्र के आग्रह से जोड़ा। उनके विमर्श में राजनीतिक स्वतंत्रता तब तक अधूरी मानी गई, जब तक वह समान नागरिकता, विधिक समानता और गरिमा पर टिके सामाजिक परिवर्तन से न जुड़ जाए। यही कारण है कि उनके नेतृत्व में उभरे सामाजिक आन्दोलन महाड़ के जल–अधिकार से लेकर कालाराम मंदिर–प्रवेश और व्यापक नागरिक अधिकार अभियानों तक ने सिर्फ प्रतीकात्मक बहिष्कार को चुनौती नहीं दी, बल्कि विधिक–संवैधानिक ढाँचे में मौलिक अधिकारों और समानता के सिद्धान्त को केंद्र में रखा। महत्त्वपूर्ण यह भी है कि अम्बेडकर ने आन्दोलनों को केवल नैतिक अपील के सहारे नहीं छोड़ा; उन्होंने शिक्षा, प्रतिनिधित्व, श्रम–विधि और संवैधानिक संरक्षण को दलित समुदाय की आत्म–सशक्तिकरण रणनीति का धुरी बनाया। यही नैतिक–राजनीतिक परंपरा आगे चलकर भारतीय संविधान में अधिकारों–कर्तव्यों, न्याय, स्वतंत्रता, समानता और बंधुता की रूपरेखा में साकार हुई। वैचारिक स्तर पर, सामाजिक आन्दोलन उनके लिए "ऊर्जा–संचयन" का माध्यम थे। समुदाय को अपनी स्थिति के प्रति सचेत कर, उसे दीर्घकालीन राजनीतिक भागीदारी और संस्थागत परिवर्तन के लिए तैयार करना। समकालीन विमर्श में यह भी प्रमाणित होता है कि दलित आन्दोलन को उन्होंने व्यापक लोकतांत्रिक और वर्ग–विरोधी प्रवृत्तियों के साथ एक आलोचनात्मक संवाद में रखा; गँधियन और मार्क्सवादी धारा दोनों के गुण–दोषों का आकलन करते हुए उन्होंने समानता और आत्म–सम्मान की स्वायत्त राजनीति विकसित की। आगे के शोध की दिशाएँ तीन स्तरों पर विकसित की जा सकती हैं। एक, "स्थानीय सामाजिक इतिहास" के रूप में महाड़/नासिक जैसे स्थापनात्मक आन्दोलनों के गाँव–कस्बों में पड़े दीर्घकालीन प्रभाव, भूमिअधिकार, शिक्षा–अर्जन, और जाति–सम्बन्धों के पुनर्गठन का सूक्ष्म–अध्ययन। दो, "नीतिगत मूल्यांकन" के रूप में अम्बेडकर की मौलिक–अधिकार और प्रतिनिधित्व की अवधारणा का बाद–स्वतंत्रता परवर्तित न्यायालय–निर्णयों के साथ ट्रेस–स्टडी, ताकि समझा जा सके कि सामाजिक आन्दोलन से उपजी माँगें संस्थागत ढाँचों में किस प्रकार रूपान्तरित हुईं। तीन, "तुलनात्मक आन्दोलन–अध्ययन" दलित आन्दोलन और समवर्ती किसान–मज़दूर के बीच अन्तःक्रिया, वैचारिक उधार–लेन–देन और संगठनात्मक रणनीतियों की तुलना, जिससे अम्बेडकरवाद की लोकतांत्रिक संभावनाएँ और सीमाएँ समग्रता में उद्घाटित हों। इन दिशाओं में प्रगति से यह तर्क और पुष्ट होगा कि अम्बेडकर का योगदान केवल संवैधानिक स्थापत्य तक सीमित नहीं, बल्कि भारत के सामाजिक–न्याय प्रकल्प की सतत् ऊर्जा–धारा है ऐसी धारा जो राजनीतिक स्वतन्त्रता को सामाजिक लोकतंत्र में परिणत करने की शर्तें रचती है।

Author's Declaration:

I/We, the author(s)/co-author(s), declare that the entire content, views, analysis, and conclusions of this article are solely my/our own. I/We take full responsibility, individually and collectively, for any errors, omissions, ethical misconduct, copyright violations, plagiarism, defamation, misrepresentation, or any legal consequences arising now or in the future. The publisher, editors, and reviewers shall not be held responsible or liable in any way for any legal, ethical, financial, or reputational claims related to this article. All responsibility rests solely with the author(s)/co-author(s), jointly and severally. I/We further affirm that there is no conflict of interest financial, personal, academic, or professional regarding the subject, findings, or publication of this article.

संदर्भ

1. आंबेडकर, बी. आर. (2014). डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरः लेखन और भाषण (खंड 2). मुंबईः डॉ. आंबेडकर फाउंडेशन; शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र शासन. पृ. 428.
2. आंबेडकर, बी. आर. (2014). डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरः लेखन और भाषण (खंड 9– कांग्रेस और गांधी ने अस्पृश्यों के साथ क्या किया?). मुंबईः महाराष्ट्र शासन; डॉ. आंबेडकर फाउंडेशन. पृ. 253–254.

3. बिस्वास, एस. (2008). पूना पैक्टः सहस्राब्दी का सबसे बड़ा विश्वासघात. कॉन्टेम्पररी वॉइस ऑफ दलित, 1(1), 109. नई दिल्ली, सेज पब्लिकेशन्स इंडिया.
4. आंबेडकर, बी. आर. (2014). डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर, लेखन और भाषण (खंड 1; संपा. वसंत मून). नई दिल्ली, डॉ. आंबेडकर फाउंडेशन, सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय. पृ. 88.
5. आंबेडकर, बी. आर. (1947). राज्य और अल्पसंख्यकरू उनके अधिकार क्या हैं और स्वतंत्र भारत के संविधान में उन्हें कैसे सुनिश्चित करें. बॉम्बेः ठाकर्स प्रेस. पृ. 14.
6. भारत की संविधान सभा. (2014, पुनर्मुद्रण). संविधान सभा वाद–विवाद (आधिकारिक प्रतिवेदन), खंड 11, डॉ. बी. आर. आंबेडकर का भाषण (25 नवम्बर 1949). नई दिल्लीः लोकसभा सचिवालय. पृ. 333.
7. कीर, डी. (1990). डॉ. आंबेडकररू जीवन और मिशन. बॉम्बेरू पॉपुलर प्रकाशन. पृ. 55–56.
8. आंबेडकर, बी. आर. (2014). "ऑल इंडिया शेड्यूल्ड कास्ट्स फेडरेशन का संविधान." वि. मून (सम्पा.), डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर– लेखन और भाषण (खंड 17, भाग 2, पृ. 485). मुंबईः शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र शासन.
9. कीर, डी. (1971). डॉ. आंबेडकरः जीवन और मिशन. बॉम्बेरू पॉपुलर प्रकाशन. पृ. 41.
10. आंबेडकर, बी. आर. (1990). "जनता (1 अक्टूबर 1932)." डॉ. बाबासाहेब आंबेडकरः लेखन और भाषण (खंड 17, भाग 1, पृ. 188). मुंबईरू शिक्षा विभाग, महाराष्ट्र शासन.
11. बाली, एल. आर. (1980). डा० अम्बेडकर और भारतीय संविधान. जालंधरः भीम पत्रिका प्रकाशन. पृ. 137.
12. सिंह, आर. जी. (1991). डा० अम्बेडकर के सामाजिक विचार. भोपालः मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी. पृ. 94.
13. रत्तू, नानकचन्द. (2007). डा० बी. आर. अम्बेडकर संस्मरण और स्मृतियाँ. नई दिल्लीः सम्यक प्रकाशन. पृ. 158.
14. राय, हिमांशु. (1990). युगपुरुष बाबासाहेब डा० भीमराव अम्बेडकर (संघर्ष गाथा). दिल्लीः समता प्रकाशन. पृ. 27.
15. पूरण मल. (1999). अस्पृश्यता एवं दलित चेतना. जयपुररू पोइन्टर पब्लिशर्स. पृ. 76–77.

Cite this Article-

'डॉ0 राधे श्याम, 'स्वतंत्रता आंदोलन में डॉ. भीमराव अम्बेडकर का योगदान', Research Vidyapith International Multidisciplinary Journal (RVIMJ), ISSN: 3048-7331 (Online), Volume:2, Issue:06, June 2025.

Journal URL- https://www.researchvidyapith.com/

DOI- 10.70650/rvimj.2025v2i600015

Published Date- 10 June 2025